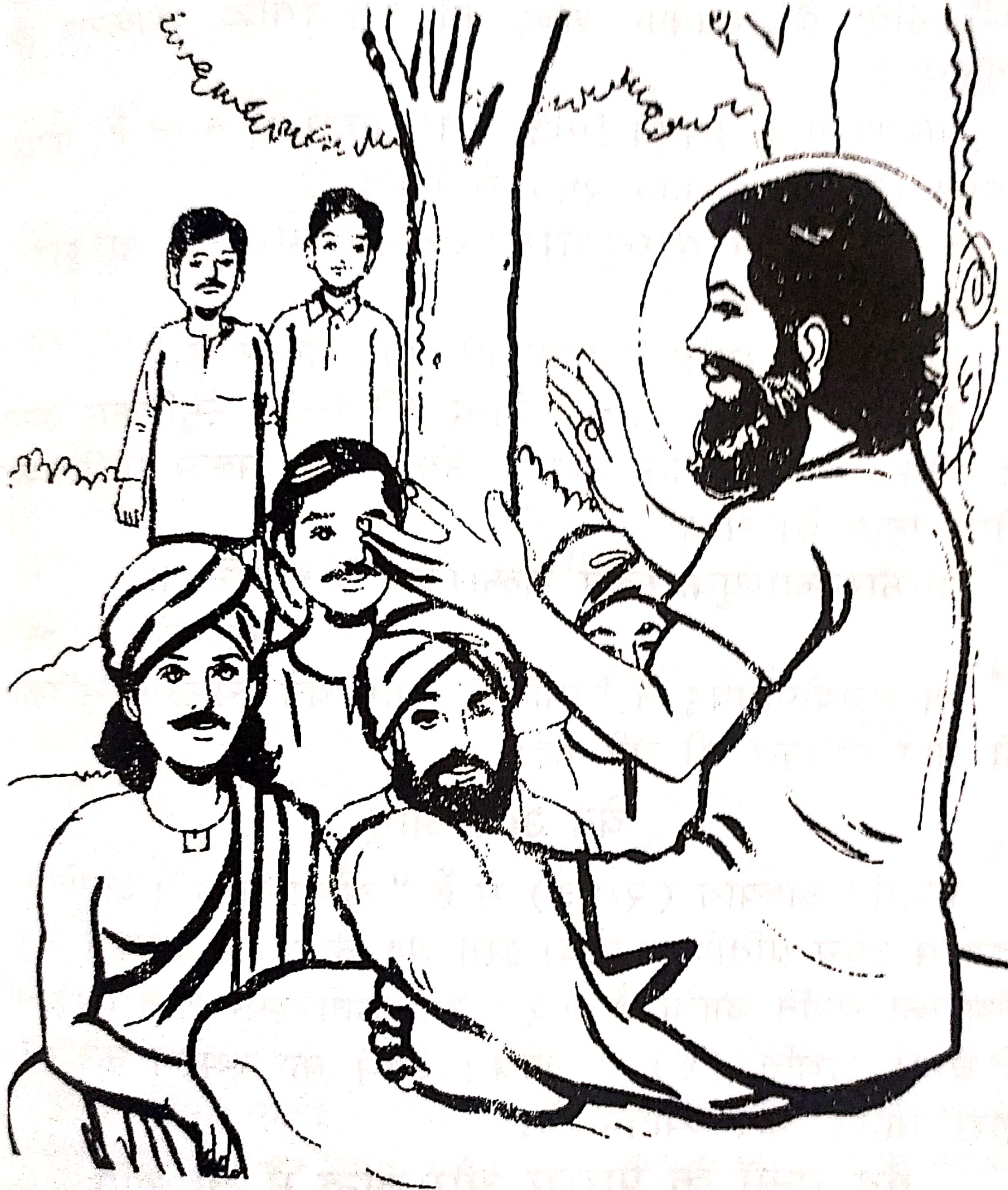
माण्डूक्य उपनिषद्



माण्डूक्योपनिषद्

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं, तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

अर्थ–(ओम् इति) 'ओम्' (एतद्) यह (अक्षरम्) अक्षर है (तस्य) उस ओम् का (इदम्) यह (सर्वम्) सब (उपव्याख्यानम्) फैलाव है। (भूतम्) भूत (भवत्) वर्तमान (भविष्यत्) और भविष्यत् (इति) यह (सर्वम्) सब (ओङ्कारः) ओंकार (एव) ही है। (च) और (यत्) जो (अन्यत्) इसके सिवा (त्रिकाल) तीन काल से (अतीतम्) बाहर है (तद् अपि) वह भी (ओङ्कार एव) ओंकार ही है ॥ १ ॥

व्याख्या–ओम् ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है। वाचक (नाम) और वाच्य (नामी) में अभेद होता है इसलिए ओम् के इस सब में फैलाव होने का अर्थ यह है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर ही का फैलाव है। दृश्य ब्रह्माण्ड वास्तव में ईश्वर के कतिपय गुणों का प्रदर्शनमात्र है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। यदि हम किसी वस्तु को देखते हैं तो प्रश्न होता है कि हम क्या देखते हैं? उदाहरण के लिए एक पुस्तक को लो–सभी कहते हैं कि वे उसे देखते हैं, अब विचार करो कि वे क्या देखते हैं? पुस्तक के देखने का अर्थ दो दृश्यों का देखना है–

(१) पुस्तक का आकार–कि वह कितनी लम्बी, चौड़ी और मोटी है।

(२) पुस्तक का रूप–कि वह किस रंग की है।

स्पष्ट है कि ये दिखाई देने वाली दोनों चीजें पुस्तक के गुण हैं। पुस्तक इनसे भिन्न वजन वाली चीज इनसे पृथक् है और वही वस्तु तत्त्व है और अदृश्य है इसलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्ष केवल गुणों का होता है गुणी का नहीं। जब हम सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रादि, जगत् में उत्पन्न पदार्थों को

देखते हैं तो उन सबमें जहाँ उनके बाह्य दृश्य दिखलाई देते हैं वहाँ उनमें जो वस्तुतत्त्व (गुणी) हैं उसका ज्ञान होता है और उससे, स्पष्ट रीति से ईश्वर की रचना का भी, उसने इन पदार्थों को रचा यह ज्ञान भी होता है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ उस ईश्वर की रचना है और असल में उसके रचना रूप गुण ही का यह विस्तार है जिसे हम ब्रह्माण्ड कहते हैं। प्रकृति तो विकृत होकर वस्तुओं के वस्तुत्त्व (Thing in itself) के रूप में रहती है और अदृश्य ही रहती है। दिखाई देने वाला संसार बाह्य दृश्य-मात्र है जिसने ईश्वर की रचना रूप गुण के फैलाव से वर्त्तमान गुण रूप धारण किया हुआ है। फिर उपनिषद्वाक्य में कहा गया है कि भूत, भवत् और भविष्यत् और तीनों कालों से जो कुछ बाहर है वह भी सब ओंकार ही है।

निरुक्त के परिशिष्ट में एक जगह❖ भूत, भविष्यत् और सर्वम् शब्दों की महत् के नामों में गणना की गई है परन्तु यहाँ वे शब्द कालवाचक ही हैं। प्रकृति संसार में दो रूप में रहा करती है—एक उसका शुद्ध (करण) रूप जिसे सांख्य के आचार्य कपिल ने सत्, रजः और तमः की साम्यावस्था कहा है और दूसरा उसका विकृत रूप। पहला रूप जिसे वेद में असम्भूति⊗ कहा गया है उसका कुछ अनुमान हम शरीर से कर सकते हैं। यह शरीर नाममंात्र के लिए शरीर कहा जाता है असल में मूल प्रकृति आकाशवत् समस्त ब्रह्माण्ड में और उससे बाहर भी फैली हुई है। जिस प्रकार घड़े के भीतर के आकाश को घटाकाश और मठ (घर) के भीतर के आकाश को मठाकाश कहते हैं। यद्यपि ये आकाशांश ब्रह्माण्ड में व्याप्त आकाश से पृथक् नहीं परन्तु घट और मठ की अपेक्षा से इन्हें घटाकाश और मठाकाश कहते हैं इसी प्रकार मूल प्रकृति का वह अंश जो किसी व्यक्ति के शरीर के भीतर हुआ करता है कारण शरीर कहलाता है यद्यपि यह प्रकृत्यंश सर्वत्र व्याप्त मूल

❖ निरुक्त परिशिष्ट अ० १४ खं० १०

⊗ यजुर्वेद ४०/९

प्रकृति से पृथक् नहीं परन्तु मनुष्यों के शरीरों की अपेक्षा से उसे कारण शरीर कहा करते हैं। जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं वह प्रकृति की विकृत अवस्था मात्र और त्रिकाल का प्रयोग भी उसी के लिए सीमित है। यहाँ एक बात याद रखनी चाहिए कि समय और काल में भेद है। समय सादि और सान्त होता है परन्तु काल अनादि और अनन्त होता है। समय की उत्पत्ति सूर्य की उत्पत्ति से प्रारम्भ होती है। वर्ष, महीने, दिन आदि ये विभाग भी समय ही के हैं और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान ये विभाग भी समय ही के हैं, परन्तु काल इससे पहले भी रहता है इसलिए ब्रह्माण्ड जो प्रकृति का दूसरा और विकृत रूप है, तीन काल के अन्दर समझा जाता है परन्तु मूल प्रकृति ब्रह्माण्ड से बाहर भी है इसलिए उसे उपनिषद् के इस वाक्य में त्रिकालातीत अर्थात् तीनों कालों से बाहर कहा गया है।

प्रकृति सूर्य-चन्द्र आदि की उत्पत्ति से पहले भी रहती है जो तीनों कालों से बाहर की अवस्था है इसलिए उसे उचित रीति से त्रिकालातीत कहा गया है।*

उपनिषद्वाक्य में तीनों कालों के अन्तर्गत रहने वाली ब्रह्माण्ड रूप विकृति और इससे बाहर रहने वाली प्रकृति को ओंकार ही कहा गया है। इस प्रकार प्रकृति विकृति सबको ओंकार ही कहने का कारण ईश्वर का सर्वव्यापकत्व है। यह बात एक उदाहरण से भली भाँति समझी जा सकती है। कल्पना करो कि लोहे का गोला है जिसे अग्नि से इतना तपाया गया है कि वह लाल होकर अग्नि सा दहक रहा है, अब इस गोले को लोहे का गोला भी कह सकते हैं क्योंकि वह वास्तव में लोहे का है और यदि उसे अग्नि का गोला कहें तब भी ठीक है क्योंकि उसे छूते ही हाथ जलने लगता है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड और उससे बाहर स्थित प्रकृति को गोलास्थानी समझ और उसमें व्यापकत्व से ओत-प्रोत ईश्वर को अग्निस्थानी-तो

* उपनिषद् के इस वाक्य में काल शब्द का प्रयोग समय ही के लिए किया गया है।

उसे भी चाहे प्रकृति का गोला कहें तो भी ठीक है और यदि यह कहें कि ईश्वर रूपी अग्नि का गोला है तब भी ठीक है। यही भाव इस ब्रह्माण्ड को ओंकार कहने का है ॥ १ ॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एतत्) यह (सर्वम्) सब (ब्रह्म) ब्रह्म ही है (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (ब्रह्म) ब्रह्म है (सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (चतुष्पात्) चार पाद वाला है ॥ २ ॥

व्याख्या– इस वाक्य में ३ बाक्य वर्णित हैं–

(१) यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है।

(२) यह सब (ईश्वर) ब्रह्म (महान्) है।

(३) ब्रह्म के ४ पाद हैं।

पहली बात–ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कहना लोहे के गोले को उसमें व्याप्त अग्नि कहने के सदृश है जैसा पहले वाक्य की व्याख्या में कहा जा चुका है।

दूसरी बात–आत्मा शब्द का जीव और ईश्वर दोनों के अर्थों में आना सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यहाँ आत्मा शब्द ईश्वर के अर्थों में है और उसको ब्रह्म–बड़ा या महान् कहा गया है।

तीसरी बात–उस ईश्वर को चार पाद वाला कहा गया है। ४ पाद का तात्पर्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं से है। जिस प्रकार जीव इन चार अवस्थाओं में रहा करता है उसी प्रकार ईश्वर से भी इन चार अवस्थाओं का सम्बन्ध जोड़ा गया है। प्रकृति तीन अवस्थाओं में रहा करती है–

उसका पहला और असली रूप उसका कारण रूप में रहना है।

दूसरी अवस्था वह है जिसमें प्रकृति विकृत होकर सूक्ष्म भूतों के रूपों में रहा करती है जिसका प्रारम्भ महत्तत्व से होता है और जिनकी समाप्ति १० इन्द्रियों तक हो जाती है।

तीसरी अवस्था प्रकृति की विकृति स्थूल अवस्था है जिसमें पञ्चभूत और उनसे उत्पन्न समस्त ब्रह्माण्ड का समावेश है।

(१) जिस प्रकार ब्रह्म अपने व्यापकत्व से कारण रूप प्रकृति में व्याप्त रहता है उसकी वह सुषुप्तावस्था कही जाती है।

(२) जिस समय वह सूक्ष्म भूतों में व्याप्त रहता है तब यह उसकी स्वप्न अवस्था समझी जाती है।

(३) और जब स्थूल भूतों और ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत होता है तब उसकी यह जाग्रत् अवस्था बतलाई जाती है।

तब तीनों अवस्थाओं को ब्रह्म का शबल रूप कहते हैं। शबल के अर्थ हैं—रंग-बिरंग वाला अर्थात् व्यक्त। इन तीनों अवस्थाओं को इसीलिए शबल कहते हैं कि इनमें ब्रह्म प्रकृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार अपने गुणों से व्यक्त हुआ करता है। इसी अवस्था के लिए कठोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक होते हुए भी भुवन में प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूप में प्रतिरूप हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्म भी एक होते हुए व्यापकत्व से प्रत्येक रूप के प्रतिरूप हो जाता है।❖

ब्रह्म के इस शबल रूप के सिवा चौथा तुरीयस्थानी उसका अपना शुद्ध रूप है⊗ और यही उसका यथार्थ रूप है। इसी रूप के लिए, जहाँ तक मनुष्यों द्वारा उसके ज्ञान के प्राप्त करने का सम्बन्ध है, उपनिषद् में 'नेति नेति' का आदेश किया गया है। ब्रह्म के चार पादों के सम्बन्ध में यह प्रारम्भिक ज्ञातव्य बात है विस्तार के साथ उनका वर्णन आगे के पृष्ठों में मिलेगा ।। २ ।।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ।। ३।।

अर्थ—(जागरितस्थानः) जाग्रत स्थान वाला (बहिःप्रज्ञः) बाहर बुद्धि वाला (सप्ताङ्गः) सात अंग वाला (एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस मुख वाला (स्थूलभुक्) स्थूल भोगी (वैश्वानरः) वैश्वानर (प्रथमः पादः) पहला पाद है ।। ३ ।।

❖ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।
(कठोपनिषद् ५/९)

⊗ ब्रह्म के शबल रूप काल की सीमा में हैं उसका शुद्ध रूप कालातीत होता है।

व्याख्या—जाग्रत् अवस्था में जीवात्मा की प्रज्ञा स्थूल जगत् में काम करती है और उसके कार्य क्षेत्र पांच इन्द्रिय-विषय = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सूक्ष्म और कारण शरीर, कुल सात अंग होते हैं और इनमें कार्य करने के साधन पांच प्राण, १० इन्द्रिय और ४ अन्तःकरण, कुल १९ शरीरावयव होते हैं जिनसे स्थूल जगत् के विषयों को ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार ईश्वर से सम्बन्धित जाग्रत् अवस्था वह समझी जाती है जब यह अपने (आलंकारिक) विराट् शरीर में, जो स्थूल और सूक्ष्म भूतों तथा कारणरूप प्रकृति से पूरा हुआ करता है, काम किया करता है और उसके कार्य के साधन भी, मनुष्य शरीरवत् उसके विराट् शरीरस्थ इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि हुआ करते हैं। यहाँ यह बात समझ लेने के योग्य है कि मनुष्य शरीर में वह सब कुछ होता है जो शरीर से बाहर ब्रह्माण्ड में हुआ करता है। इसको निम्न भांति समझ लेना चाहिए—

	ब्रह्माण्ड में उपस्थित वस्तुएँ			**शरीर में उनके नाम**	
(१)		कारणरूप प्रकृति	(१)		कारण शरीर
(२)	सूक्ष्म भूत	महत्तत्व	(२)	सूक्ष्म शरीर	बुद्धि
(३)		अहंकार	(३)		अहंकार
(४)		५ तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध	(४)		इन्द्रिय विषय (शब्द, स्पर्श) रूप, रस, गन्ध
(५)		मन	(५)		मन
(६)		दशेन्द्रिय	(६)		दशेन्द्रिय
(७)		आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पञ्च स्थूल भूत।	(७)		स्थूल शरीर

ब्रह्माण्ड में जो महत्तत्वादि हैं वे सभी उन-उन प्रकार की प्रकृतियों के ढेर हैं जिनमें से कुछ शरीर में जाकर उसी-उसी प्रकार के इन्द्रिय का रूप हो जाते हैं। जैसे महतत्व रूपी प्रकृति के ढेर में से कुछ अंश मनुष्य के शरीर में जाता है तो उसका

नाम बुद्धि हो जाता है। इसी प्रकार अहंकार, मन और प्रत्येक इन्द्रिय रूपी प्रकृति के ढेर में से जितना जितना अंश मनुष्य के शरीर में जाता है उस उसका नाम वही मन, अहंकार और कान, नाक और आँख आदि इन्द्रिय हो जाता है। अस्तु, इस प्रकार ब्रह्माण्ड में जब ईश्वर के सर्वव्यापकत्व और सर्वशक्तिमान् से गतिपूर्ण ब्रह्माण्ड का काम जारी रहता है, तब यह ईश्वर की जाग्रत् अवस्था कही और समझी जाती है। इस अवस्था में उसे वैश्वानर इसलिए कहते हैं कि वह जगत् में विद्यमान होते हुए सबको गति देता और नियन्त्रण में रखता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु अपना काम चलाने के लिए शक्ति उसी से प्राप्त करती है* यह ब्रह्म का पहला पाद है। पाद शब्द के अर्थ सत्ता की अवस्था के हैं और यह शब्द गत्यर्थक पद धातु से बनता है ।। ३ ।।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्, तैजसो द्वितीयः पादः ।। ४ ।।

अर्थ–(स्वप्नस्थानः) स्वप्न स्थान वाला (अन्तःप्रज्ञः) भीतर बुद्धि वाला (सप्ताङ्गः) सात अंग वाला (एकोनविंशतिमुखः) १९ मुख वाला (प्रविविक्तभुक्) सूक्ष्म भोगी (तैजसः) तैजस (द्वितीयः पादः) दूसरा पाद है ।। ४ ।।

व्याख्या–जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में इन्द्रियों का काम बन्द रहता है उसी प्रकार ब्रह्म की स्वप्न अवस्था वह है जिसमें वह अपने सर्वव्यापकत्व और सर्वशक्तिमत्व से सूक्ष्म भूतों में व्याप्त होकर अपने स्वाभाविक ज्ञान और कर्म से उन्हें इस योग्य बनाता है कि वे स्थूल जगत-के रूप में परिवर्तित होकर काम चलाने के ७ अंग और १९ मुख वे ही होते हैं जिनका उल्लेख इससे पूर्व जाग्रतावस्था के वर्णन में किया जा चुका है। इस अवस्था में, मनुष्यों की स्वप्नावस्था के सदृश, उसका

* निरुक्त में वैश्वानर की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है–"वैश्वानरः कस्माद्विश्वान्नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति चापि वा विश्वान् एव स्यात्प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि।" (निरुक्त ७ । २१)
अर्थात्–वैश्वानर वह है जो सब जीवों का नियन्ता है वा जो सबमें व्यापक होकर सब को चला रहा है।

काम बाहर नहीं अपितु भीतर ही हुआ करता है, इसीलिए इस उपनिषद्वाक्य में उसे अन्तःप्रज्ञा वाला कहा गया है अर्थात् उस की प्रज्ञा भीतर ही काम करती हुई होती है और वह इस प्रकार अन्तःप्रज्ञ होने से सूक्ष्म का भोक्ता अर्थात् सूक्ष्म भूतों से काम लेने वाला कहा और समझा जाता है। इस अवस्था में उसे तैजस कहा जाता है। प्रज्ञा और तैजस ये दोनों शब्द निरुक्त में आत्म (भीतरी) गति के लिए प्रयुक्त हैं[⊗] अर्थात् आत्मा (परमेश्वर) अपनी गति को भीतर काम देने में प्रयोग कर रहा है। यह ईश्वर का दूसरा पाद कहा जाता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते,
न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो,
ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

अर्थ–(यत्र) जब (सुप्तः) सोया हुआ (मनुष्य) (कञ्चन) किसी (कामम्) कामना को (न, कामयते) नहीं चाहता (कञ्चन) किसी (स्वप्नम्) स्वप्न को (न, पश्यति) नहीं देखता (तत्) वह (सुषुप्तम्) सुषुप्त अवस्था है। (सुषुप्त-स्थानः) सुषुप्त स्थान वाला (एकीभूतः) अपने स्वरूप में स्थित (प्रज्ञान घनः) उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूप (एव) ही (आनन्दमयः) आनन्दमय (हि) निश्चय (आनन्दभुक्) आनन्दभोक्ता (चेतोमुखः) चेतनारूप मुख वाला (प्राज्ञः) विशेष प्रज्ञा वाला (तृतीयः) तीसरा (पादः) पाद है ॥ ५ ॥

व्याख्या–मनुष्य की सुषुप्तावस्था में जिस प्रकार न इन्द्रिय-व्यापार होता है न मन का कुछ काम जारी रहता है केवल आत्मा काम करता है और वह इच्छा रहित अपने आप (कारण शरीर) में निमग्न होता है इसी प्रकार ब्रह्म की सुषुप्तावस्था वह है जिसमें न स्थूल जगत् होता है न सूक्ष्म भूत। इसलिए इनमें, उसका जो काम, सर्वव्यापकत्व से होता है, बन्द

⊗ प्राज्ञश्चात्मा तैजश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे । (निरुक्त १/२/३७)
अर्थात्–प्राज्ञ और तैजस शब्द आत्मगति और उसकी सत्यता की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं।

रहता है और उसका कार्यक्षेत्र केवल कारणरूप प्रकृति होती है और उसी में उसका काम जारी रहता है।

यहाँ यह बात समझ लेने के योग्य है कि महाप्रलयावस्था में यह नहीं होता है कि प्रकृति के भीतर कुछ काम न होता हो। जिस प्रकार कोई खेत करते पैदावार से आगे पैदावार करने के अयोग्य हो जाता है तब कृषक उसे कई वर्ष तक खाली पड़ा रहने देता है। इस खाली पड़े रहने के काल में खेत का काम बन्द नहीं रहता, उसके अणु और परमाणु अपनी खोई हुई शक्ति को अपने भीतर लाते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के सूक्ष्माति-सूक्ष्म परमाणुओं के भीतर भी विकृत होकर जगत् को उत्पन्न करने की योग्यता ईश्वर के उसमें व्यापकत्व और उसके स्वाभाविक ज्ञान और क्रिया से बराबर आती रहती है। अस्तु, सुषुप्तावस्था में ब्रह्म की समस्त शक्तियाँ, उसी (कारणरूप प्रकृति) में केन्द्रित होती हैं और वह स्वयं प्रज्ञानघन अर्थात् अपने चेतनामय स्वरूप से आनन्द ही का आधार समझा और कहा जाता है और इसीलिए इस अवथा में उसका नाम प्राज्ञ अर्थात् विज्ञानरूप होता है। यह ब्रह्म का तीसरा पाद कहा जाता है।

तात्पर्य इस सबका यह है कि महाप्रलयावथा में ईश्वर स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के भूतों की दृष्टि से अव्यक्त होता और कारणरूप प्रकृति को, शक्ति प्रदान करता हुआ अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित रहता है ।। ५ ।।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येष योनिः

सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।। ६ ।।

अर्थ–(एषः) यह ओम् (सर्वेश्वरः) सबका स्वामी (एषः) यह/(सर्वज्ञः) सबका ज्ञाता (एषः) यह (अन्तर्य्यामी) अन्तर्यामी (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वस्य) सब (भूतानाम्) भूतों, पदार्थों के (प्रभवाप्ययौ) उत्पत्ति और विनाश का (योनिः) कारण है ।। ६ ।।

व्याख्या–जिस ईश्वर की चर्चा उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्यों में की गई, उपनिषद् के इस वाक्य में उसी की महिमा प्रकट की गई है, अर्थात् वह ईश्वर सबका स्वामी सर्वज्ञ

सर्वान्तर्यामी और समस्त सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति और विनाश का निमित्तकारण है ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं
न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम-
चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्य प्रत्ययसारम्,
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्,
चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

अर्थ—(न अन्तःप्रज्ञम्) न भीतर की ओर प्रज्ञा = बुद्धि वाला (न बहिःप्रज्ञम्) न बाहर की ओर प्रज्ञा वाला (न उभयतः प्रज्ञम्) न भीतर और बाहर दोनों ओर प्रज्ञा वाला (न प्रज्ञानघनम्) न उत्कृष्ट प्रज्ञा वाला (न प्रज्ञम्) न प्रज्ञा वाला (न अप्रज्ञम्) न प्रज्ञारहित (अदृष्टम्) अदृष्ट (अव्यवहार्यम्) व्यवहार में आने के अयोग्य (अग्राह्यम्) अग्राह्य (अलक्षणम्) जिसका लक्षण न हो सके (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (अव्यपदेश्यम्) अनिर्वचनीय (एकात्म्यप्रत्ययसारम्) एकात्म- प्रत्ययसार अर्थात् वह केवल आत्मा है, यही प्रतीति जिसका सार है (प्रपञ्चोपशमम्) प्रपञ्च जाग्रतादि अवस्थायें जहाँ शान्त हो जाती हैं (शान्तम्) शान्त (शिवम्) आनन्दमय (अद्वैतम्) अतुलनीय (चतुर्थम्) चौथा तुरीयपाद (मन्यन्ते) मानते हैं (सः) वह (आत्मा) आत्मा है और (सः विज्ञेयः) वह जानने के योग्य है ॥ ७ ॥

व्याख्या—अब जीवात्मा की तुरीयावस्था का वर्णन इसलिए किया जाता है जिससे ब्रह्म की चतुर्थावस्था (चौथा पाद) समझा जा सके। जीवात्मा पहली तीन अवस्थाओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में काम किया करता है परन्तु उसकी चतुर्थ तुरीयावस्था वह होती है जिसमें इन तीनों शरीरों का अभाव हुआ करता है। इस अवस्था में उसके लिए कहा गया है कि यह अन्तःप्रज्ञ नहीं क्योंकि सूक्ष्म शरीर रहित है। वह बहिःप्रज्ञ अर्थात् सूक्ष्म शरीर से बाहर प्रज्ञा वाला भी नहीं है क्योंकि स्थूल शरीर भी नहीं होता और इसीलिए वह एक साथ

दोनों प्रज्ञा वाला भी नहीं हो सकता। वह उत्कृष्ट प्रज्ञा वाला (प्रज्ञानघन) भी नहीं क्योंकि कारण शरीर से भी सम्बन्ध रहित है, वह बाह्य जगत् का न जानने वाला है क्योंकि वह अब उस आत्मा से बाह्य जगत् के समस्त सम्बन्धों से परे है। वह देखा नहीं जा सकता क्योंकि इस व्यवहार से वह परे हो चुका है, उसे कोई पकड़ नहीं सकता क्योंकि कर्मेन्द्रियों के व्यवहार से भी वह परे है। उसका कोई लक्षण नहीं कर सकता क्योंकि वह चिह्न-रहित है। उसका कोई चिन्तन भी नहीं कर सकता क्योंकि वह मन की सीमा से भी बाहर हो चुका है। निष्कर्ष यह है कि इस (तुरीय) अवस्था में जीवन अनिर्वाच्य होता है उसे शब्द की सीमा में नहीं लाया जा सकता, अब वह केवल आत्मा है, बस इतना ही अब उसका ज्ञान है। वह प्रपञ्च जो पहली तीन अवस्थाओं में था, अब शान्त है।

यहाँ तक जीव की उल्लिखित तुरीयावस्था के उदाहरण से ब्रह्म की तुरीय अवस्था समझनी चाहिये। इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल और सूक्ष्म भूतों के अभाव से न बहिःप्रज्ञ होता है, न अन्तःप्रज्ञ और न एक साथ इन दोनों प्रज्ञाओं वाला है। वह प्रज्ञानघन भी नहीं क्योंकि अपने स्वरूप से ब्रह्म कारण जगत् प्रकृति से भी परे होता है। वह जगत् के अभाव से न उसका ज्ञाता हो सकता है न अज्ञाता। जिस प्रकार जगत् में उसके गुणों द्वारा ज्ञानदृष्टि से उसे देखा जाता, व्यवहार में लाया जाता है ग्रहण और चिन्तन किया जाता है अब इन सबसे वह परे है। और इसीलिए इस अवस्था में अनिर्वाच्य कहा और माना जाता है। अब वह केवल आत्मा (ब्रह्म) है बस यही प्रतीति अब उसका ज्ञान है। वह प्रपञ्च-जगद्रचना, कर्मफल दातृत्व आदि के रूप में जो जगत् की स्थिति में पहली तीन अवस्थाओं में थे-अब शान्त है। अवस्था में शान्त शिव और अद्वैत ब्रह्म का चौथा पाद माना जाता है-यही ब्रह्म का असली स्वरूप है और जानने के योग्य है। जहाँ प्रथम की तीन अवस्थाओं का वर्णन विधि-भाव से होता है वहाँ चतुर्थ तुरीयावस्था का वर्णन सदैव निषेध मुख (नेति-नेति) से हुआ करता है ॥ ७ ॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

अर्थ–(सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (अधि-अक्षरम्) अक्षर में अधिष्ठित है और वह अक्षर (ओङ्कारः) ओंकार है और वह ओंकार (अधिमात्रम्) मात्राओं में अधिष्ठित है (पादः मात्राः) पाद मात्रा हैं (च) और (मात्राः पादः) मात्रा पाद हैं। (अकार, उकार, मकार, इति) और वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं ॥८॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में वाचक वाच्य नाम और नामी का अभेद दिखलाया गया है। वाक्य का भाव निम्न चित्र से भली-भाँति हृदयांकित होगा। चित्र में ब्रह्म के साथ उसके पाद और ओंकार के साथ उसकी मात्रायें दिखलाई गई हैं–

	नामी	ब्रह्म के पाद			
(१)	ब्रह्म वा आत्मा	जाग्रत् में वैश्वानर	स्वप्न में तैजस	सुषुप्ति में प्राज्ञ	तुरीय में आत्मा
(२)	नाम ओंकार	ओंकार की मात्रायें			
		अकार	उकार	मकार	अमात्र

अर्थात् वह आत्मा ओंकार है और ओंकार वह मात्रा (ब्रह्म) है-ब्रह्म के चार पाद❖ ओंकार की मात्रायें हैं और ओंकार की मात्रायें ब्रह्म के ४ पाद हैं ॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

अर्थ–(जागरितस्थानः) जाग्रत अवस्था स्थान वाला (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम वाला [जो पहला पाद है वही] (अकारः) अकार (प्रथमा मात्रा) ओंकार की पहली मात्रा है। (आप्तेः) उसके व्याप्त होने (या) (आदिमत्वात्) पहला होने से

❖ मात्रा वह है जो मापे या परिमाण बतलाए। (उणादिकोष ४/१६८)

(ह, वै) निश्चय (यः) जो (एवं वेद) उसे इस प्रकार जानता है, (सर्वान् कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त करता है (च) और (आदिः) अगुआ (भवति) होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या–इस से पहले वाक्य में जो ओंकार और ब्रह्म की अभेदता दिखलाई गई अब इस वाक्य से उसमें प्रयुक्त एक-एक मात्रा और एक-एक पाद का अभेद दिखलाना शुरू किया गया है। ब्रह्म का पहला पाद जाग्रत् स्थानी वैश्वानर है और ओंकार की पहली मात्रा अकार है तो नाम और नाम की अभेदता के सिद्धान्तानुसार वैश्वानर अकार है और अकार वैश्वानर है। इन दोनों की समता इस प्रकार है–

(१) वैश्वानर स्थूल जगत् के अभिमानी विराट् आत्मा को कहते हैं अर्थात् वैश्वानर वह है जो जगत् में सर्वत्र व्याप्त है इसलिए इस वाक्य में उसके दो विशेषण दिये हैं–

(क) सर्वत्र प्राप्त होना।

(ख) आदिम होना।

(२) अकार–'अ' आप् धातु से है जिसका अर्थ प्राप्त होना है। वर्णमाला में 'अ' से अधिक व्यापक न कोई स्वर है और न कोई व्यंजन, इसलिए इसका व्यापकत्व प्रत्यक्ष ही है। यह वर्णमाला का पहला अक्षर अथवा ओंकार की पहली मात्रा है इसलिए इसका आदिम (पहला) होना भी स्पष्ट है। इस प्रकार विचार करने से वैश्वानर और अकार की समता साफ तौर से प्रकट हो जाती है। इसके सिवाय वैश्वानर पहला पाद और अकार पहली मात्रा है इससे भी उनकी समता है।

वाक्यान्त में फलश्रुति कही गई है अर्थात् जो कोई ब्रह्म के पहले पाद वैश्वानर और ओंकार की पहली मात्रा अकार में अभेद जानकर उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता है और जगत् में अगुआ (मुखिया) भी बनता है ॥ ९ ॥

नोट–फलश्रुति अकार अथवा वैश्वानर के भावानुकूल ही है–असम्बद्ध रीति से वर्णित नहीं हुई।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम्। समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति, य एवं वेद ॥ १० ॥

अर्थ–(स्वप्नस्थानः) स्वप्न स्थान वाला (तैजसः) तैजस नाम वाला जो दूसरा पाद है वही (उकारः) उकार (द्वितीया मात्रा) ओंकार की दूसरी मात्रा है (उत्कर्षात्) (उसके) उत्कृष्ट (वा) और (उभयत्वात्) दोनों–प्रथमा और द्वितीया–होने से (ह, वै) निश्चय (यः) जो उसे (एवं वेद) इस प्रकार जानता है वह (ज्ञानसन्ततिम्) ज्ञान के प्रवाह को (उत्कर्षति) बढ़ाता है (च) और (समानः) तुल्य (भवति) होता है (अस्य कुले) इसके कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला (न भवति) नहीं होता ।। १० ।।

व्याख्या–स्वप्नस्थानी "तैजस" ब्रह्म का दूसरा पाद और उकार ओंकार की दूसरी मध्यवर्ती मात्रा है। इनकी अभेदता का तात्पर्य यह है कि तैजस उकार और उकार तैजस है।

तैजस और प्राज्ञ शब्द निरुक्तानुकूल जैसा कि कहा जा चुका है। आत्मसत्ता की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं। तैजस वैश्वानर से उत्कृष्ट अवस्था है जैसे जगत् के स्वप्न, इसलिए तैजस में उत्कृष्टता का भी भाव है और उभयता का भी, इसलिए कि वह वैश्वानर और प्राज्ञ दोनों पादों का मध्यवर्ती है। दूसरी ओर उकार भी उत्कर्ष तथा अभय से लिया गया है इसके भीतर भी इसीलिए ये दोनों भाव उपस्थित हैं इससे उकार और तैजस की समता साफ तौर से प्रकट हो जाती है।

फलश्रुति वाक्यान्त में इस प्रकार वर्णित है कि जो कोई ब्रह्म के दूसरे पाद अथवा ओंकार की दूसरी मात्रा की अभेदता को लक्ष्य में रखकर, उपासना करता है उसमें ज्ञान की उत्कृष्टता और समता आती है। यह फल भी स्पष्ट है कि दूसरी मात्रा अथवा दूसरे पाद के अर्थानुकूल ही है। ऐसे उपासक के गृह में कौन कह सकता है कि उसकी सन्तान ब्रह्मवित् न होगी ।। १० ।।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ 11 ॥

अर्थ–(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्त स्थान वाला (प्राज्ञः) प्राज्ञ संज्ञा वाला जो तीसरा पाद है वही (मकारः) मकार (तृतीया मात्रा) ओंकार की तीसरी मात्रा है। (मितेः) मान (च) और अपीतिः) एकीभाव से (यः) जो (उसे) (एवं वेद) इस प्रकार जानता है, वह (इदम् सर्वम्) इस सबको (मिनोति) माप लेता है या यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है (च) और (अपीतिः) आत्ममय (भवति) होता है ॥ ११ ॥

व्याख्या–सुषुप्तस्थानी प्राज्ञ ब्रह्म का तीसरा पाद है और मकार ओंकार की तीसरी मात्रा है जिसका भाव यह है कि प्राज्ञ मकार है और मकार प्राज्ञ है। 'म्' मा धातु से है जिसका अर्थ मापना है। प्राज्ञ तैजस और विश्व सृष्टि की अन्तिम गति है अर्थात् उससे समस्त जगत् की माप होती है और इसलिए इसके भीतर प्रलय का भाव भी निहित है। इसी प्रकार ओंकार की समाप्ति सूचक मात्रा और अन्य मात्राओं का लय-स्थान है। उच्चारण में भी जहाँ उकार से मुँह खुलता है वहाँ मकार से बन्द हो जाता है, इससे दोनों (तृतीय पाद और तृतीय मात्रा) की समता और अभेदता प्रकट होती है।

फलश्रुति में कहा गया है कि जो कोई इस मान और दोनों [पाद और मात्रा] के एकीभाव को लक्ष्य में रखकर उपासना करता है वह इस समस्त ब्रह्मांड को माप लेता है अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और वह लय का स्थान भी होता है अर्थात् समस्त प्राकृतिक संसार-शरीरों को पार करके अन्तर्मुखी होता हुआ आत्ममय हो जाता है ॥ ११ ॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः, शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव, संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

अर्थ–(चतुर्थः) चौथा पाद (अमात्रः) मात्रा रहित (अव्यवहार्य्यः) व्यवहार के अयोग्य (प्रपञ्चोपशमः)

प्रपञ्च-रहित (शिवः) कल्याणरूप (अद्वैतः) अद्वितीय (एवम् ओङ्कारः) इस प्रकार ओंकार (आत्मा एव) आत्मा ही है (यः) जो (उसे) (एवं वेद) इस प्रकार जानता है वह (आत्मना) आत्मा के द्वारा (आत्मानम्) परमात्मा में (संविशति) प्रवेश करता है।। १२ ।।

व्याख्या—वह चतुर्थ तुरीय पाद है जहाँ कथन की सीमा में आने वाले विधिमुख की समाप्ति हो जाती है और उसका वर्णन केवल निषेध मुख से किया जाता है जैसा कि कहा जा चुका है। इस वाक्य में इसीलिए चौथे पाद की तुलना में ओंकार को अमात्र कहा गया है, उसका भाव यह है कि यहाँ ओंकार रूप शब्दवाचक साम अथवा संज्ञा की समाप्ति हो जाती है और इस अवस्था में मनुष्य की आत्मा, नामी, वाच्य, अर्थ अथवा संज्ञी का साक्षात्कार कर लिया करती है। इसलिए इस वाक्य में इस अवस्था को, बोल-चाल के व्यवहार में आने के अयोग्य प्रकट करते हुए प्रपञ्चोपशम कहा गया है। प्रपञ्च दृश्यमान जगत् को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ तुरीयावस्था व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के जगत् के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। त्रिमात्र ओंकार भी तुरीय के द्वार पर पहुंचकर अमात्र रह जाता है इसलिए इस अवस्था को कल्याणकारी अद्वितीय अवस्था कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि ओंकार वह आत्मा (ब्रह्म) ही है। जो इस प्रकार ओंकार को आत्मा (ब्रह्म) और आत्मा (ब्रह्म) को ओंकार समझते हुए उपासना करता है वह जीवात्मा के द्वारा परमात्मा में प्रवेश करता है। "य एवं वेद" का दुबारा पाठ ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है।। १२ ।।